

दलित उत्थान में विभिन्न जनांदोलनों की भूमिका: विशेषकर बिहार के संदर्भ में

डॉ. शिप्रा आनन्द

एम.ए., पीएच.डी., (इतिहास)

बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय

भारत में पहली क्रांति तब आई जब आर्य भारत आये अथवा जब भारतवर्ष में आर्योत्तर जातियों के मिश्रण से जो जनता तैयार हुई, वही भारत की बुनियादी जनता हुई और उस जनता की संस्कृति ही इस देश की बुनियादी संस्कृति है।

ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व भारत में पहले महावीर और फिर बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध हिन्दू धर्म में जन्मे थे और उनके सारे सिद्धांत भी बतलाते हैं कि वे अपने युग के सबसे बड़े हिन्दू सुधारक और संत थे। उन्होंने हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध किया, किंतु उनका सबसे बड़ा कार्य शायद वह था कि उन्होंने जन्म के आधार पर जातियों को श्रेष्ठ और अधम मानने से इंकार कर दिया। सभी मनुष्य जन्मना समान हैं और ऊँच-नीच का भेद केवल कर्म और आचरण की उच्चता और नीचता का भेद है— इस विचार का जोरदार प्रचार सबसे पहले बुद्ध ने ही किया था। बुद्ध ने ही वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध विद्रोह करके इस देश में उस वृहत मानवतावादी आंदोलन से भारतीय संस्कृति में दूसरी क्रांति घटित हुई, जिसका प्रभाव जीवन की असंख्य दिशाओं में पड़ा।¹

इस प्रकार, भारत में दूसरी सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति बुद्ध और महावीर के विचारों और सिद्धांतों से हुई थी। दोनों ने वेदों के प्रमाण्य को, वैदिक कर्मकांड को, वैदिक हिंसा को चुनौती दी थी। बुद्ध के प्रहार से पुरानी ब्राह्मणवादी व्यवस्था बदली थी। अहिंसा, करुणा, जीवदया, लोकभाषा आदि की प्रतिष्ठा हुई थी।

चूँकि महावीर बिहार में जन्मे थे और बुद्ध की कर्मभूमि बिहार थी— परिणामतः बुद्ध और महावीर के आंदोलनों का सर्वाधिक प्रभाव बिहार पर ही पड़ा था।²

कालक्रम में बौद्ध विद्रोह भी एक व्यवस्था में जम गया। तब शंकराचार्य के नेतृत्व में ब्राह्मण व्यवस्था फिर लौटी। लेकिन तबतक

तंत्र-मंत्र और शुभ-लाभ की प्रवृत्ति हिन्दू, बौद्ध सब में व्याप्त हो गई थी। देश की अंदरूनी रसायन सुख रहा था। इस्लाम का बाह्य चुनौती को यह न पचा सका। बाह्य इस्लाम धर्म और राज्य कायम हुआ। देश घोर वैचारिक मकड़जाल में फंस गया। इस वैचारिक मकड़जाल से देश को उबारने में भक्ति आंदोलन ने अहम भूमिका अदा की। इसीलिये भक्ति को भारत में सांस्कृतिक क्रांति का तीसरा पड़ाव मानते हैं।

भक्ति आंदोलन एक ऐसा सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसमें लोक लागरण अभूतपूर्व ढंग से देखने को मिला। इस आंदोलन में साहित्य जनता के जितना निकट दिखाई पड़ा- उतना पहले वह कभी नजर नहीं आया था। इस आंदोलन ने जाति-पाँति तोड़ने का विधान बनाया। उन्होंने पहले-पहल अछूतों को हरीजन या हरिदास कहा, जिससे बाद में गांधीजी ने बहुत प्रचलित किया। यह आंदोलन सम्पूर्ण देश में फैला। हर जाति में उच्च कोटि के ज्ञानी संत हुए, जिन्होंने अपनी मातृभाषा में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया। उन्होंने अपने अनुयायियों के नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाया।³

इस आंदोलन को व्यापारियों, जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों से मदद मिला। इन शक्तियों के सांस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सामंतवाद सबसे बड़ी बाधा था। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का नजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को सांस लेने का मौका मिला, वह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। इस प्रकार भक्ति आंदोलन एक औरत जनवादी आंदोलन था।⁴

भक्ति आंदोलन के दो फलक थे, निर्गुण और सगुण धाराएँ अलग-अलग प्रभावित हो रही थी लेकिन दोनों में वैचारिक टकराव था- दोनों में विचार के दंगल हो रहे थे।

निर्गुण भक्ति की लगभग सभी परम्पराएँ निम्न जातीय शिल्पियों से संबंध थी। कबीर जुलाहे थे। संत सेन नाई जाति में पैदा हुए थे। रैदास चमार थे। संत कमाल जुलाहे कबीर के पुत्र थे। धर्मदास बनिया थे। दादु दयान बनिया जाति में जन्मे थे। संत बखना निराशी थे। बुला साहब कुर्मी थे और संत गुलाब साहब हलवाई का काम करते थे। दीनदर बेस लोहार थे। बिहार वाले

दरिया दास मुसलमान थे। संत चरणदास, साहजोबाई और दयाबाई का जन्म दूसरे वैश्य कुल में हुआ था। पलटू साहब कान्दू बनिया जाति में जन्मे थे। संत त्रिलोचन वैश्य थे। कश्मीर की महिला संत लला मेहतर जाति की थी। जबकि महाराष्ट्र के नामदेव छिपी नामक जाति में पैदा हुए थे। निर्गुण संतों की पूरी जमात इस प्रकार निम्न वर्णी और निम्नवर्गीय थी, जिना व्यापक प्रभाव शिल्पी जातियों और श्रमिक वर्ग पर पड़ा था, लेकिन व्यापक जनसमर्थन के बावजूद इस आंदोलन की सीमाएँ थी- उनकी मुख्य प्रतिबद्धता थी कि उन्हें भी ईश्वर की पूजा का अधिकार मिले। उनका ध्यान आर्थिक विषमता और उनके मिटाने की ओर नहीं गया, जिनके कारण वे प्रताड़ित हो रहे थे। बिहार में भक्ति आंदोलन की निरंतरता उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में भी देखने को मिली।

कबीरपंथ, नानकपंथ और दरियापंथ बिहार के सबसे प्रारंभिक जाति विरोधी आंदोलन थे। उन्होंने जाति-प्रथा का अनर्गल कहकर निंदा की और इस बात पर जोर दिया कि सभी मानव हैं और सबको भगवान की पूजा करने का अधिकार है। उन्होंने ऐकेश्वरवाद की शिक्षा दी और धार्मिक अनुष्ठानों तथा मूर्ति पूजा पर चोट की। बहरहाल, उनका प्रभाव यहाँ-वहाँ छोटे इलाकों में गरीबों के बीच ख़ासकर अछूतों और दस्तकारों के बीच सीमित रहा। ब्राह्मधवाद का प्रभाव इतना व्यापक था कि कवे कोई ख़ास प्रगति नहीं कर सके। आज भी कबीरपंथियों का एक बड़ा मठ सारण जिला के धनौती में है, जिसकी स्थापना भागोदास ने की थी। भागोदास ने पहली बार कबीर बीजक का संकलन और सम्पादन किया था। कबीर के पुत्र कमला साहब को छोड़कर कबीर के चार मुख्य शिष्य कहे जाते हैं। लोकप्रचलित शिष्य परम्परा में सुरति, गोपाल, जागू, भागू और धर्मदासजी का नाम मुख्य रूप से आता है।⁵

भागू साहब कबीरदास के प्रमुख शिष्य में मुख्य थे। भागू साहब ने उत्तर बिहार में कबीरपंथ का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। कबीरपंथ की इस परम्परा को भगताही शाखा कहते हैं। चम्पारण जनपद के बड़हरवा शाखा इस शाखा का प्रथम धर्म केन्द्र है। बाद में धनौती का मठ बना जो सीवान जिला में स्थित एक गाँव है।

कबीरपंथ में दूसरी महत्वपूर्ण शाखा जागू साहब की है। तत्काल इसका प्रमुख धर्म केन्द्र वैशाली में हाजीपुर के समीप

विदुपुर गांव में है। इस परम्परा के साधु और महंत भी कबीरदास की मूलधारा है। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर चौरा को छोड़कर कबीरपंथ की प्रमुख तीन शाखाओं का केन्द्र बिहार में है। चटिया-बड़हरवा और धनौती की भागू शाखा, विदुपुर की जागू शाखा और तात्वाजीवा की फतुहा शाखा बदस्तूर आज भी अस्तित्ववान है।

शिवनारायणी पंथ की स्थापना अठारहवीं सदी में गाजीपुर के राजपूत शिवनारायण ने की थी। उन्होंने निराकार ब्रह्मा का प्रचार किया और मूर्ति पूजा का विरोध किया। उन्होंने कहा कि सभी मानव समान है, चाहे उसकी जाति और धर्म कुछ भी हो। उन्होंने सबसे निचली जातियों चमार, दुसाध, मल्लह, कुर्मी और कानू को आकृष्ट किया। उनका धार्मिक ग्रंथ शब्द ग्रंथ है जो ओ० मैली के अनुसार: शब्द ग्रंथ कहता है कि ईश्वर में विश्वास, भावनाओं पर नियंत्रण और गुरु की आज्ञा के पालन से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। सभी जातियों के लोग इस पंथ में शामिल हो सकते हैं, पर उन्हें विवाह अपनी ही जाति में करनी होगी। जैसे कोई शिवनारायणी चमार किसी शिवनारायणी दुसाध की बेटी से विवाह नहीं करेगा। लगभग सभी सदस्य निम्न जातियों से, खासकर चमार और दुसाध जातियों से आते हैं। चम्पारण जिला में व्यवहारतः सिर्फ चमार जाति के सदस्य हैं। मूर्ति पूजा, मादक पदार्थों का सेवन और मांस खाना विर्जित है, पर मांस खाना और मदिरा का सेवन बढ़ने लगा है। गुरुओं के मजार पर पूजा होती है जहां फल और मिठाईयाँ चढ़ाई जाती है। यह पंथ प्रगतिशील नहीं मालूम पड़ता।⁶

इस तरह शिवनारायणी पंथ के बुनियादी सिद्धांतों ने, जैसे जाति प्रथा में अंधविश्वास, मूर्ति पूजा और अनुष्ठानों से परहेज और बेहतर व्यक्तिगत जीवन, धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो दिया। ऐसा क्यों हुआ, यह हमारे विचार के दायरे के बाहर है।

कौल पंथ के लोग शक्ति या काली के उपासक हैं और उनका विश्वास है कि तमाम चीजें एक ही सार्वभौम आत्मा की अभिव्यक्ति है। पंथ का बुनियादी सिद्धांत यह है कि कोई भी चीन निम्न या अशुद्ध नहीं है। यह पंथ जाति प्रथा का विरोध करता है, पर यह विरोध पंथ की बैठकों तक और सिर्फ सिद्धांत रूप में है। कौलों ने ओ० मैली का ध्यान खींचा, जिन्होंने व्यंग्यात्मक लहजे में लिखा:

“स्पष्ट तौर पर मान्यता है कि पंथ की बैठकों के बाहर जाते ही हरेक आदमी अपनी ही जाति में जा गिरता है।”

1850 के बास-पास बनारस के एक ब्राह्मण पंडित शुभंकर मिश्र ने पटना सिटी में इस पंथ को काफी फैलाया, पर वह ज्यादा दिनों तक नहीं चला। इस पंथ का आकर्षण एक हद तक इस बात में निहित है कि वह वाम मार्गी दर्शन में विश्वास करता है, जिसमें मांस खाने और मदिरा पीने पर कोई पाबंदी नहीं है। कहने की जरूरत नहीं है कि उन्नीसवीं सदी में उँची जातियों के अनेक युवक इसकी ओर आकृष्ट हुए।⁷

एक अन्य पंथ जिनका कुछ प्रभाव था, वे धरनीश्वरी पंथ और सरभंग पंथ थे। धरमीश्वरी पंथ की स्थापना धरनी दास ने किया था। सरभंग पंथ का प्रभाव बिहार और उत्तर प्रदेश के भोजपुरी इलाके तक सीमित है। यह आज भी जीवित है और इसका मुख्यालय बनारस में है। उठारहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी में इसकी महत्वपूर्ण हस्तियों में बाबा भिनक राम, बाबा भिखन राम, बाबा टेकमन राम और पंडित प्रपंच मिश्र थे। उनका प्रभाव बिहार में सारण और चम्पारण तक सीमित था। वे मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। वे निरंकार ब्रह्मा के पुजारी थे और जात-पात का भेदभाव नहीं मानते थे। भोजपुरी लोकगीतों और हिन्दी के संत साहित्य में उनके योगदान को मान्यता मिली है। लेकिन बिहार में हिन्दू सामाजिक ढाँचे पर उनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं रह सका।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में पैदा हुए ब्रह्म समाज का प्रभाव कोई नहीं जान सका। यह तब जबकि बिहार भी बंगाल प्रांत का ही हिस्सा था। कलकत्ता शिक्षा और व्यापार का केन्द्र था और न केवल प्रदेश बल्कि देश की राजधानी थी। इसके अलावा इस पंथ के संस्थापक राजा राममोहन राय खुद भी बिहार से जुड़े थे, उन्होंने हजारीबाग जिला के रामगढ़ में उपायुक्त के दफ्तर से सिरिस्तदार के रूप में अपना जीवन शुरू किया था। उसके सामाजिक सुधार के संदेश और पुर्नजागरण के प्रभाव की बिहारी हिन्दुओं ने पूरी तरह उपेक्षा कर दी। बिहार की कई शहरों में ब्रह्मसमाज के मंदिर और दातव्य औषधालय हैं। इनमें पटना के मशहूर स्कूल राममोहन सेमिनरी भी है। तो भी बिहार के सामाजिक जीवन पर इसका प्रभाव नगण्य है। वह बिहारी हिन्दू समाज में मामूली हलचल भी पैदा कर न सका।⁸

इस तरह दलितों के उत्थान के लिए चलाये गये जनांदोलनों का काफी फलाफल निकला। इसी का परिणाम है कि कालांतर में दलित यह समझने लगे हैं कि हमारा स्वाभाविक धर्म हिन्दू धर्म है। धार्मिक क्रियाकलापों से वंचित दलितों में द्रोह की भावना होती थी। वे धर्मान्तर करने की बात सोचने लगते थे। यही कारण था कि मुस्लिम शासनकाल में दलित मुसलमान बनने में अपनी भलाई समझने लगे थे। उसी तरह अंग्रेजी शासनकाल में उनका ईसाई बनना आम बात थी क्योंकि दलित मुसलमान या ईसाई बनने के बावजूद वे हिन्दू ही बने रह जाते थे। कभी मन से वैसा नहीं करना चाहते थे तो आर्थिक कष्ट के निवारणार्थ या सामाजिक उत्पीड़न से तंग आकर मुसलमान या ईसाई बनते थे लेकिन ईसाई या इस्लाम धर्म में धर्मान्तरित होने के बावजूद वे जिससे धर्मान्तरण करते थे वहाँ भी वे उसी जाति के होकर रह जाते थे।

संदर्भ सूची :-

1. पांडेय, ब्रज कुमार, बिहार में सांस्कृतिक आंदोलन, कम्युनिस्ट पार्टी की इक्कीसी कांग्रेस की स्मारिका, पृ. 43
2. वही
3. वही
4. वही, पृ. 44
5. वही, पृ. 44
6. वही, पृ. 45
7. वही, पृ. 46
8. वही, पृ. 46

